International Research Journal of Human Resources and Social Sciences
ISSN(O): (2349-4085) ISSN(P): (2394-4218)
Impact Factor- 5.414, Volume 5, Issue 2, February 2018
Website- www.aarf.asia, Email : editor@aarf.asia , editoraarf@gmail.com

गीता में सामाजिक चेतना का सामाजशास्त्री अध्ययन

डॉ. राहुल

पी.एच.डी. (समाजशास्त्र)

भारतीय संस्कृति सनातन संस्कृति है । सम्पूर्ण मानव समाज के कल्याण के सूत्र इस संस्कृति की मूलधारा में ओतप्रोत है । जीवन के प्रत्येक पहलू को अद्‌भुत रूप से आनन्द निमग्न होकर जीने की कला इस संस्कृति की पहचान है । वेद भारत के आधारग्रन्थ हैं । भारतीय संस्कृति वेदमूलक संस्कृति है । इस गौरवमयी परम्परा की आधार यजुर्वेद में प्राप्त होता है, जहाँ इसे विश्व की प्रथम तथा वरण करने योग्य संस्कृति बताते हुए कहा गया हे –

सा संस्कृति प्रथम विश्ववारा

ब्राह्मणग्रन्थों, स्मृतियों, उपनिषदों से लेकर श्रीमद्‌भगवद्‌गीता पर्यन्त इसी उज्ज्वल सांस्कृतिक धारा का प्रवाह दृष्टिगोचर होता है । आध्यात्मिकता के जल से इस पावनी संस्कृति को पल्लवन होता है । बृहदारण्यकोपनिषद् का यह सन्देश बहुत मूल्यवान है ।

आत्मा का अरे द्रष्टव्यों मन्तव्यो श्रोतव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि ।

यहाँ पर महर्षि याज्ञवल्क्य ने आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन पर विशेष जोर दिया है । जब तक व्यक्ति आत्मा लोचन के बिना जीवन यापन करेगा, तब तक संसार में त्रासदी बनी रहेगी, यह शाश्वत सत्य है । वर्त्तमान विश्व में आत्मचिन्तन का निरन्तर ह्रास हो रहा है, जिसका दुष्प्रभाव सबके सामने है । भारतीय मनीषियों के इस दिव्य चिन्तन को भगवान् कृष्ण ने अपनी अमरवाणी गीता के माध्यम से लोक कल्याण हेतु प्रस्तुत किया है । गीता की इस दिव्यता का गाान स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता के अठारहवें अध्याय में निम्न रूप में किया है ।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् बुह्यतरं मया ।

विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ।।[3]

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु में परमें वचः ।

© Associated Asia Research Foundation (AARF)
A Monthly Double-Blind Peer Reviewed Refereed Open Access International e-Journal - Included in the International Serial Directories.

इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामिते हितम् ।।[4]

गीता की इस सकल जगत्कल्याण्कारिणी वाणी के सामाजिक चेतना से जुड़े कुछ अमृतकण यहाँ प्रस्तुत है –

वर्णाश्रम व्यवस्था :

भगवान् कृष्ण ने मानव समाज की सहज प्रवृत्ति का अनुसंधान करके गीताशास्त्र में चातुर्वर्ण्य धर्म की प्रतिष्ठा की है –

चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।

तस्य कर्त्तारमपि मां विद्धयकर्त्तारमव्ययम् ।।[5]

यहाँ श्रीकृष्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के रूप में वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठापना करते हैं । वर्त्तमान समय में चातुर्वर्ण्य संस्कृति का लोप हो गया है और उसका स्थान जाति व्यवस्था ने ले लिया है । इससे समाज में निरन्तर कुटता, वैमनस्य एवं अविश्वास का वातावरण बना हुआ है । वस्तुत प्राचीन भारत में शिक्षा काल में विद्यार्थी के ज्ञान, शौर्य, व्यवहार एवं सेवा का आकलन करके उसके वर्ण की उद्घोषणा की जाती थी, यह एक अद्भुत सांस्कृतिक यज्ञ था और इससे प्रजा में सहअस्तित्व का भाव बना रहता था ।

यज्ञिय संस्कृति :

गीता में यज्ञ का महत्त्व सर्वत्र दिखाई देता है । यज्ञ केवल अल्पकालिक कर्मकाण्ड मात्र नहीं है । यज्ञ के माध्यम से सम्पूर्ण स्वार्थ को त्याग कर मानव मात्र की सेवा में तल्लीन होने की भावना जागृत होती है । गीता में सभी कार्यों को 'यज्ञ' बनाने की सन्देश है । गीता की यज्ञिय संस्कृति की वर्त्तमान युग में पुनः स्थापना होनी चाहिए । गीता के अनुसार यज्ञ से भिन्न सभी कर्म बन्धन के कराण है –

यज्ञार्थात् कर्मणो ऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्ग समाचार ।।[6]

गीता का स्पष्ट कथन है कि आदिकाल में स्वयं प्रजापति ने प्रजा को उपदेश दिया कि तुम यज्ञिय कर्म का विस्तार करो और यह यज्ञ तुम सब को इच्छित भोग प्रदान करने वाला होगा ।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोस्त्विष्टकामधुक् ।।[7]

समस्त प्रकृति भी इस यज्ञिजय आदान प्रदान से अनुगृहीत होती है और परस्पर स्वार्थ परित्याग पूर्वक यज्ञ अनुष्ठान से सबका कल्याण भी होता है –

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमावाप्स्यथ ।।[8]

यज्ञ के सामाजिक महत्त्व को बताते हुए श्रीकृष्ण ने कहा कि यज्ञ के अवशिष्ट अन्न को ग्रहण करने वाले व्यक्ति और समाज के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं और जिस समाज में इस परम्परा का निर्वहन नहीं होता वह पाप का भागी है –

यज्ञशिष्टाशिनः मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः ।

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।। गीता 3.3

वर्त्तमान विश्व की समस्याओं का समाधान गीता की यज्ञिय परम्परा में है ।

दैवी और आसुरी भाव :

श्रीकृष्ण ने गीता में मानव की सामाजिक प्रवृत्ति की खोज की है । गीता के अनुसार जीवन का धर्म उच्च आध्यात्मिकता में है । दैवी प्रकृति व्यक्ति को मुक्ति मार्ग की तरफ अग्रसर करती है और आसुरी प्रकृति व्यक्ति को बन्धन की राह दिखाती है –

दैवीसम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।

मा शुचः सम्पदं दैवीभभिजातौऽसि पाण्डव ।।[9]

भगवान् श्री कृष्ण ने दैवी सम्पद् को स्पष्ट करते हुए कहा है कि अभय, चित्त की प्रसन्नता, तत्त्वज्ञान की साधना, दय, दान, यज्ञ, स्वाध्याय, तप और अन्तःकरण की सरलता दैवी सम्पद् के प्राथमिक लक्षण हैं –

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।

दानं दयश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तपआर्जवम् ।।[10]

इसी क्रम में अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, निन्दा न करना, अल्नोभ, कोमलता, लज्जा और अचपलता को दैवी सम्पत् कहा है –

अहिंसा सत्यमक्रोधः त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।

दया भूतेषु अलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीचापलम् ।।[11]

गीता के अन्य श्लोकों में भी विस्तार से दैवी सम्पदा का विवेचन है । इसके बाद गीता में दर्ज, दम्भ, अभिमान, क्रोध, अज्ञान, कठोरता आदि आसुरी सम्वत् का वर्णन प्राप्त होता है ।[12]

सामाजिक चेतना के विस्तार का सन्देश देते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि जब तक समाज में दैवी प्रकृति का विस्तार और आसुरी प्रकृति का स्पष्ट नहीं होगा तब सामाजिक विषमता समाप्त नहीं हो सकती ।

गीता वस्तुतः सांस्कृतिक और आध्यात्मिक जीवन मूल्यों से ओत-प्रोत महाग्रन्थ है । इसका अध्ययन, मनन और चिन्तन सामाजिक चेतना की जागृति में महत्त्वपूर्ण हो सकता है । इसके अध्ययन से समरसता पूर्ण समाज का निर्माण हो सकता है और यही वर्तमान युग की बड़ी आवश्यकता है ।

सन्दर्भ

1. यजुर्वेद
2. बृहदारण्यकोपनिषद् 4.5.6
3. गीता, 18.63
4. वही, 18.64
5. वही, 4.13
6. वही, 3.9
7. वही, 3.10
8. वही, 3.11
9. वही, 16.5
10. वही, 16.1
11. वही, 16.2
12. वही, 16.4